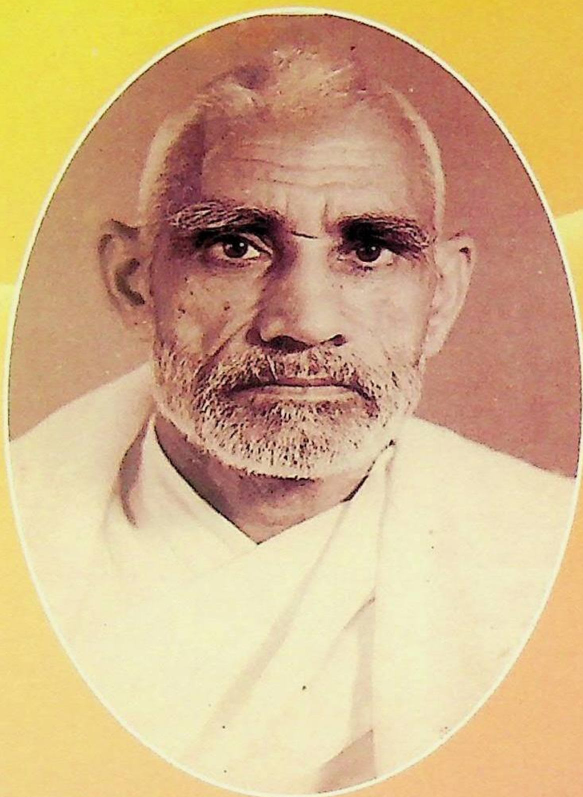
साधक शंका समाधान



महात्मा श्री नारायणदास जी

साधक शंका समाधान

गुरूपूर्णिमा
२५ जुलाई २०१०

द्वितीय संस्करण
२०१०

मूल्य पन्द्रह रूपये

पूर्वपीठिका

कुछ समय पूर्व परमपूज्य श्रद्धेय महात्मा जी द्वारा साधकों को दिये गये पत्रोत्तरों के मध्य से श्री रा.ना. होल्कर के परिवार द्वारा संकलित अंशों का प्रकाशन 'बोधामृत' एवं 'वचनामृत' शीर्षक से दो पुस्तिकाओं के रूप में हुआ था और उनके अवलोकन से कुछ ऐसा प्रतीत हुआ था कि इस प्रक्रिया में सहज-स्वाभाविकता को कहीं आघात पहुँचा है। मन में वैचारिक द्वन्द्व भी इस रूप में चलता रहा कि यह काट-छाँट एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह की अपनी धारणा एवं आवश्यकता के ही अनुरूप होकर रह जाती है। क्यों न इस कार्य को पाठक पर ही छोड़ा जावे कि वह अपनी इच्छानुसार अपनी आवश्यकतानुसार 'अमृतकणों' को चुने। इसी आधार पर जब परम पूज्य श्रद्धेय महात्मा जी के नियमित सत्संगी श्री शिवराज देवकर (प्राचार्य, पंचायत प्रशिक्षण संस्था, शिवपुरी) का स्थानान्तरण जबलपुर को हो गया तब उनके जिज्ञासापूर्ण पत्र शिवपुरी आने लगे जिनका उत्तर परम पूज्य श्रद्धेय महात्माजी द्वारा दिया जाने लगा। श्री देवकर की जिज्ञासाएँ मुझे सभी साधकों की जिज्ञासाएँ प्रतीत हुईं और मैं उनके पत्राचार में रूचि लेने लगा और तब ऐसा प्रतीत हुआ कि वस्तुतः श्री देवकर के ये पत्र साधकों के हित में परम उपयोगी हैं। परिणामस्वरूप उनकी सहमति के साथ उनके पत्र एवं उन पत्रों के उत्तर यथावत् जनसामान्य एवं विशेषतः साधकों के चिन्तन्, मनन एवं उपयोग हेतु प्रकाशित किये जा रहे हैं।

आशा है, सभी को इस प्रकाशन से भी लाभ ही होगा।

शिवपुरी,
गणेश चतुर्थी,
1974

भवदीय,
धर्मवीर



श्री शिवराज देवकर

पहला पत्र

आधारताल, जबलपुर

सद्गुरु शरणम्

आदरणीय परम पूज्य महाराज जी को शिरसा साष्टांग दण्डवत । आपके शुभाशीर्वाद से यहाँ सकुशल हूँ । आपके आशीर्वाद से ही मेरी समस्याएँ आप ही आप सुलझ गईं । सौ. पत्नी का स्थानान्तर भी यहाँ के लिये हो गया है । क्वार्टर अच्छा मिल गया है । जलवायु उत्तम है। शुद्ध हवा एवं आरोग्यवर्द्धक पानी है । यहाँ मुझे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है , जिसके बारे में मैं चिन्तित था । एक हफ्ते में ही समस्त व्यवस्था ठीक जम गई । यह सब आपके आशीर्वाद से ठीक हो गया जिसकी स्वप्न में भी उम्मीद नहीं थी तथा जिसके लिये चिन्तित थे । आपने कहा था कि सब कुछ ठीक हो जावेगा । जो कुछ होता है, सब कुछ अच्छे के लिये ही होता है । काल्पनिक भय से ही हम चिन्तित हो जाते हैं । समय आने पर आप ही आप सब कुछ ठीक हो जाता है। यहाँ मेरा वर्तमानकाल उत्तरदायित्व की झंझटों से मुक्त है तथा प्रशिक्षण कार्य भी हल्का है जिस कारण यहाँ का स्थानान्तर सर्व तरह से लाभदायक ही हुआ । ये तो हुई दुनियादारी की बातें । अब कुछ सत्संग की बातें निम्नानुसार हैं ।

मुझे एक यह समस्या बार-बार छेड़ देती है कि जब सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है जैसा कि कहा जाता है तुलसीकृत रामायण में कि "उमा दारु जोषित की नाईं, सबहिं नचावत राम गुसांईं।।" अथवा श्रीमद्भगवद्गीता में कि "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'' अथवा ''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।'' तो साधना, सत्संग आदि से क्या लाभ ? साधना सत्संग आदि करने पर भी साधक को विषम परिस्थितियों में अशान्ति पूर्व जैसी ही आ जाती है । कभी-कभी साधारण परिस्थितियों में भी साधक विचलित हो जाता है और कई दिन तक लगातार अशान्त रहता है । हाँ साधक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप क्या है? परन्तु यह ज्ञान जीवन में उतरना महान् कठिन है । कभी-कभी अल्प अवधि के लिये जीवन में उतरता हुआ प्रतीत होता है । ऐसे अवसर पर साधक शीघ्र ही स्थिर हो जाता है परन्तु तिस पर भी अशान्ति बनी ही रहती है । फिर कहा जाता है कि अभ्यास पर्याप्त न होने से अर्थात् दृढ़ न होने से साधक की डांवाडोल स्थिति का रहना स्वाभाविक है किन्तु जब सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है तो इस अर्थ में अभ्यास, साधना, सत्संग आदि का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । हाँ एक बात साधक के मन में यह जम गई है कि सर्वत्र यंत्रवत् अपने आप समस्त कार्य हो रहे हैं। बार-बार साधक को अनुभूति होती है कि शान्ति, अशान्ति, ज्ञान, अज्ञान, भ्रम, विवेक, बीमारी, आरोग्य आदि क्रियाएँ यंत्रवत् हो रही हैं। जब जिस प्रकार की स्थिति रहना है उसे टाला नहीं जा सकता। उसे अनुभव करना ही होगा । सहन करना ही पड़ेगा । यदि सहन करने की शक्ति यथा समय अपने आप ही आ जाती है तो ही साधक सँभल सकता है, अन्यथा नहीं । इस संबंध में आपका क्या विचार है?

आप ही का

शिवराज देवकर

श्री भारतीय विद्यालय, शिवपुरी

आत्म प्रिय, सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला । कुशल पढ़कर प्रसन्नता हुई । अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही स्थितियाँ अनिवार्य हैं । आती जाती रहती हैं, स्थायी नहीं । अतएव ये विशेष महत्व नहीं रखतीं । जैसे खाना, पीना, सोना, उठना है वैसे ही अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थिति का द्वन्द्व है।

दुनियादारी की बातें और सत्संग की बातें एक ही दिमाग के विभिन्न स्मृति चिह्न हैं और एक ही जिह्वा से व्यक्त किये जाते हैं । प्रेरक भी एक ही है, साथ ही कार्यालय भी एक है ।हाँ, कुर्सियाँ अवश्य दो हैं इसलिये उन पर बैठकर बोलने मे भिन्नता व्यक्त होना स्वाभाविक है। आप पूछते हैं कि जब सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है तो साधना, सत्संग आदि से क्या लाभ? यदि आप किंचित ध्यान दें तो समस्या के समाधान का मार्ग खुलता सा अनुभव होगा।हाँ यह स्मरण रहे कि मैं भी यंत्रवत् कह रहा हूँ और आप भी यंत्रवत् पूछ रहे हैं और यंत्रवत् ही इस पत्र को पढ़ेंगे । प्रत्येक घटक के स्मृति चिह्न जिन्हें संस्कार कहते हैं, भिन्न-भिन्न होते हैं अतः जो साधना करते हैं या सत्संग करते हैं वे सब यंत्रवत् कर रहे हैं । केवल भ्रम से यह कहा जाता है कि "साधना कर रहे हैं या सत्संग कर रहे हैं । " वे अपनी प्रकृति से विवश हुए वैसा कर रहे हैं और आप भी विवश हुए पूछ रहे हैं । इस प्रकार से प्रकृति आपको प्रशिक्षण दे रही है जिससे साधना, सत्संग के पृथक-पृथक अस्तित्व समाप्त होकर एक ही अस्तित्व रह जावे कि प्रकृति ही सब कुछ यंत्रवत् करा रही है 'क्या और क्यों' यह प्रकृति ही जाने। जब सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है तब जिससे साधना हो रही है वह भी यंत्रवत् है और सत्संग कहो रहा है वह भी यंत्रवत्। शान्ति, अशान्ति का आना भी यन्त्रवत् है। विषम परिस्थितियों में और साधारण स्थितियों में विचलित होना भी

यंत्रवत् है चाहे विचलित होने वाला साधक हो अथवा गैर साधक । प्राणी मात्र से जो भी क्रियाएँ हो रही हैं वे सब यंत्रवत् हैं। ज्ञान अथवा अज्ञान की समस्त क्रियाएँ मस्तिष्क के स्मृति चिह्नों की क्रियाएँ ही हैं और बे समस्त व्यक्तियों के मस्तिष्कों की अविभाजित विद्युत किरणों (Cosmic mind) का एक अंश मात्र हैं। हमारा समझना, पूछना, प्रश्न पर प्रश्न करना सभी यंत्रवत् है। हमें पता नहीं कि किस क्रिया से किस घटक के माध्यम से क्या होना है। साधक, गैर साधक सभी तो यंत्र के पुर्जे हैं जिन्हें यंत्रवत् घुमाया जा रहा है। साधक को अपने स्वरूप का ज्ञान भी यंत्रवत् हुआ है कि एक व्यक्ति में एक ही सर्वत्र व्याप्त परमात्म-सत्ता का अविभाजित एक अंश है, इस अंश से प्रभावित परमात्म-सत्ता की शक्ति का यानी प्राणशक्ति का भी एक अविभाजित अंश है और इस शक्ति से गति-शील होने वाली समस्त व्यक्तियों के मस्तिष्कों की विद्युत किरणों से प्रभावित इच्छाशक्ति के स्मृति चिह्न हैं और इच्छाशक्ति से प्रभावित हुआ अहंकार शरीर एवं इन्द्रियों से काम लेता है। इस प्रकार व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का एकमात्र आधार परमात्म-सत्ता ही सर्वे-सर्वा है। यह ज्ञान होने पर भीं साधक फिसलता है, फिर संभलता है, फिर फिसलता है, और फिर संभलता है और कहता है कि इस ज्ञान का जीवन में उतारना महान् कठिन है। वस्तुतः यह भी यंत्रवत् ही कहा जा रहा है। यह सब प्रकृति की प्रशिक्षण प्रणाली अनुभव होती है और ऐसा भी प्रकृति ही यंत्रवत् कहला रही है।

'अभ्यास पर्याप्त न होने से अर्थात् दृढ़ न होने से विवेक का स्मरण यथा समय नहीं हो पाता और अशांति आ जाती है' इस सम्बन्ध में जो आपने विचार व्यक्त किये हैं उन्हें और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। वस्तुतः जो अभ्यास दृढ़ करने की बात कहता है वह भी तो संस्कारानुसार यंत्रवत् कह रहा है और जो इस प्रकार कह कर समाधान करता

है कि 'जब सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है तो इस अर्थ अभ्यास, सत्संग, साधना का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता' यह भी यंत्रवत् कहा गया है। प्रकृति जिसे अधिकारी बनाना चाहती है वह उससे इस प्रकार के नाना प्रश्नोत्तरों द्वारा उसके विवेक के संस्कारों को पुष्ट कर रही है और वह भी यंत्रवत् ही हो रहा है। अस्तु, संक्षेप में जब सब यंत्रवत् है तो सभी तरह की ज्ञानचर्चाएँ, जिज्ञासाएँ, शंकायें एवं उनके विविध समाधान सभी यंत्रवत् है। न तो कोई किसी को रोक सकता है न कोई किसी से कुछ कहलवा सकता है। सभी ज्ञान की चर्चाएँ, विविध स्तरों की विविध क्रियाएँ यंत्रवत् हो रही हैं। प्रकृति की आवश्यकता होगी कि आप इस प्रकार से प्रश्नोत्तर करके अपने मस्तिष्क के विवेक के संस्कारों को पुष्ट बनालें और वह जिनमें चाहेगी उन व्यक्तियों में उन्हीं बिचारों को बँटवा देगी। यही तो उसका क्रम है। हाँ, ऐसा सत्य प्रतीत होता है कि प्रत्येक घटक का मानसिक स्तर शनै-शनैः अनुभव की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा है। इनकी प्रगति की प्रणालियाँ भिन्न- भिन्न हैं। इसलिये भ्रम पड़ जाता है। ॐ

नारायणदास

—

दूसरा पत्र

आधारताल, जबलपुर

सद्गुरु शरणम्

आदरणीय परम पूज्य महाराज जी को शिरसा साष्टांग दण्डवत्। प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है स्थायी शांति चाहता है, परन्तु अन्यत्र वास्तविकता इस प्रकार स्पष्ट की गई है कि - "उतार चढ़ाव प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनमें बाधाओं का आना अनिवार्य है, चूँकि वे प्रकृति के ही अंश हैं।" साथ ही यह भी कहा जाता है कि शान्ति एवं स्थिरता बिना वैराग्य के नहीं आती हैं और फिर यह भी कहा जाता है कि-"अपने

अधिकार की वस्तुओं को त्याग देने मात्र से शान्ति नहीं आती, यदि विक्षिप्त हुआ मन उन्हें प्राप्त करने की ओर दौड़ता रहता है। अतः जगत की ओर से मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना पड़ेगा। गाढ़ निद्रा में हमारा अपनी वस्तुओं से यहाँ तक कि शरीर से भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, अतः हम शान्ति की उच्च कोटि की स्थिति में पहुँच जाते हैं। अतएव दुःखों से सदैव के लिये मुक्त होने हेतु हमें जाग्रत अवस्था में भी निद्रा जैसी स्थिति लाने का अनिश्चितकाल तक अभ्यास जारी रखना पड़ेगा। समस्त यौगिक अभ्यासों का यही लक्ष्य है जिसे 'समाधि' कहा जाता है जिसका अर्थ जाग्रत स्थिति में निद्रा की स्थिति अथवा जाग्रत में 'सुषुप्ति' है जिसे प्राप्त करने के सभी अभ्यास करने पड़ेंगे।''

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई व्यक्ति जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति जैसी अवस्था लाने में समर्थ है? स्वप्न हटने पर तो यह अनुभूति होती है कि स्वप्न असत्य था, यद्यपि उस क्षण यानी स्वप्न के समय होने वाली सुख-दुःख की क्रियाएँ सत्य ही अनुभव में आती हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था में जाग्रत अवस्था की क्रियाएँ भी स्वप्नवत् असत्य हैं, इस तथ्य का वास्तविक जीवन में उतरना क्या सम्भव है? यदि हाँ, तो सुषुप्ति स्वप्न और जाग्रत स्वप्न की क्रियाएँ किस प्रकार की होती हैं?

अभी तक तो यह अनुभूति हुई है कि सुषुप्ति-स्वप्न एवं जाग्रत-स्वप्न की क्रियाओं की अनुभूति एक समान होना सम्भव नहीं है। और यह भी अनुभूति हुई है कि जाग्रत-स्वप्न को सुषुप्ति-स्वप्न के समान असत्य मानना एवं जीवन में उतारना या उतरना सम्भव नहीं है । दोनों स्थितियों में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ एवं अनुभूति होती है । जगत को स्वप्नवत् जान लेने से कुछ भी हासिल नहीं होता है क्योंकि प्रकृति के अनुरूप ही क्रियाऐं एवं अनुभूति होती रहती है और यह स्वभाविक होती है । हाँ, यह अनुभूति अवश्य होती रहती है कि मन की स्थिरता आ रही है और जा रही है । स्थायी स्थिरता नहीं रहती है।

साधक अधिकांश अवधि में अहंकार भाव में रहता है जिस कारण सुख-दुख की अनुभूति लगातार करता रहता है । बीच -बीच में कभी-कभी साक्षी भाव में आ जाता है । उस क्षण साधक का मन स्थिर रहता है । साधक को केवल यह अनुभूति होती है, कि सर्वत्र प्रकृति के अनुसार हो रहा है तथा वह यंत्रवत् है । चूंकि शान्ति अथवा अशान्ति की क्रियाऐं प्राकृतिक हैं, स्वाभाविक हैं, अतः साधक को वैसी अनुभूति होना अनिवार्य है । जब सुख आवेगा या शान्ति आवेगी तब वैसी ही वह अनुभूति करेगा और जब दुःख आवेगा या विषम परिस्थितियाँ आवेंगी तब वह विचलित भी होगा और उसे परेशान होने की अनुभूति भी होगी। इस प्रकार साधक को यह अनुभूति होती हे कि सभी प्रकार की क्रियायें समान हैं । जब शान्ति आवेगी तब शान्ति की अनुभूति होगी और जब अशान्ति आवेगी तब अशान्ति की अनुभूति करना ही पड़ेगी, किसी भी स्थिति की अनुभूति को बदलना असम्भव है । यह ज्ञान ही यथार्थ अनुभूति है, यथार्थ साक्षात्कार है, विवेक है ।

इस प्रकार साधक के विचारों की श्रृंखला में परिवर्तन आ जाता है। पूर्व जैसी श्रृंखला नहीं रहती । विवेक आ जाता है । विवेक में वृद्धि होती है । शंका, कुशंका पूर्व जैसी नहीं रह जाती । अन्य कुछ जानने या अनुभूति करने की इच्छा कम होती जाती है। परन्तु कभी-कभी शंकाएँ, कुशंकाएँ फिर उठ आती हैं, भ्रम हो जाता है और साधक परेशान होने लगता है किन्तु, शीघ्र ही उपरोक्त किये हुये निर्णय पर आ जाता है, कई बार हमने इस पर विचार विमर्श खूब किया है, सत्संग हुआ है, इतने पर भी शंका बनी ही रहती है । ऐसा क्यों ? और इसके सम्बन्ध में आपके विचार क्या है ?

आप ही का
शिवराज देवकर

ॐ

श्री भारतीय विद्यालय, शिवपुरी

आत्म प्रिय, सप्रेम हरिस्मरण

आपका प्रश्न कुछ विस्तृत हो गया है। संक्षेप में प्रश्न यही है कि क्या कोई व्यक्ति जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति जैसी अवस्था लाने में समर्थ है ? प्रकृति के माध्यम से जो आपने समाधान के रूप में भाव व्यक्त किये हैं उन्हें और अधिक स्पष्ट मेरे द्वारा प्रकृति करा रही है । वस्तुतः प्रश्न यंत्रवत् उठा है और यंत्रवत् ही उत्तर दिलाया जा रहा है कि जिस व्यक्ति (साधक) के स्मृति चिन्ह (Traces) प्रकृति ने ऐसे बनाये हैं कि वह यंत्रवत् चलने वाले पुर्जों से परे हैं वह सभी अवस्थाओं से परे रहेगा। जैसे कि हमारे द्वारा शरीर रूपी मशीन चल रही है और हमें कुछ भी खबर नहीं कि किस किस नली में से होकर रक्त प्रवाहित हो रहा है ऐसे ही यदि साधक के संस्कारों में यह संस्कार पुष्ट हो गया है कि दिन के (जागने के) कार्य जाग्रत स्वप्न है और रात्रि के (सोते समय के) कार्य सुप्त स्वप्न हैं तो निश्चय ही दिन के कार्यों के परिणाम सुख-दुःख तथा रात्रि के स्वप्नों के परिणम सुख-दुख एक से ही अनुभव होंगे । उनमें उसे अन्तर नहीं दिखेगा । स्वप्न भी सत्य और जाग्रत भी सत्य एवं स्वप्न भी असत्य और जाग्रत भी असत्य, ऐसे ही रात्रि दिन की मिली हुई अवस्थायें भी सत्य और असत्य दिखेंगी । सत्य तो इसलिये कि अनुभव में आई और असत्य इसलिये कि वे स्थायी नहीं, आईं और चली गई । अब जिसके संस्कार ऐसे हैं कि प्रत्येक क्रिया यंत्रवत् हो रही है, उसे इन दोनों स्थितियों के सुख-दुःख छूते हुये निकल जावेंगे । क्षणभर को प्रभावित होगा और फिर स्वस्थ । जैसे छींक आई क्षणभर को प्रभावित हुए और फिर स्वस्थ । यहां असत्य को अस्थायी कहना उचित है । इन अवस्थाओं के प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक हैं । जैसे छींक

आने का प्रभाव और डकार लेने का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है पर शरीरिक क्रियाएँ हो रही हैं यह एकसा ही लागू है । ऐसे ही सब यंत्रवत् हो रहा है एकसा ही लागू है । स्वाभाविक या अस्वाभाविक स्थिति भी भ्रम है । निर्देशक के विभिन्न स्मृति चिन्हों की विभिन्न क्रियायें हैं । साक्षीभाव के भी स्मृति चिन्ह हैं । वे भी यंत्रवत् सुख-दुःख के पुर्जों को सन्तुलन में लाने के लिये कार्य करते हैं । हाँ, आपके भाव मेरे भावों से मिलते हैं कि अशान्ति के समय अशान्ति की अनुभूति होगी, शान्ति के समय शान्ति की अनुभूति बदली नहीं जा सकती और जिस साधक को यह मालूम है कि ये स्थितियाँ स्वाभाविक हैं वह अवश्य ही उन स्थितियों से परे है । तभी तो वह ऐसा व्यक्त करता है अन्यथा उनमें उलझा हुआ व्यक्ति वैसा कह ही नहीं सकता । यही स्थिति यथार्थ अनुभूति है यथार्थ में विवेक है। यह संस्कार ज्यों-ज्यों पुष्ट होता जाता है त्यों-त्यों ही उसकी पूछाताछी सहज ही कम होती जाती है । किन्तु, ये समस्त क्रियाएँ भी प्रकृति के विधानानुसार यंत्रवत् होती हैं । ऐसा लगता है कि व्यक्ति प्रयत्न कर रहा है पर वस्तुतः प्रकृति उसे यंत्रवत् विवश करके उससे करारही है। विचित्रता यह है कि न तो प्रकृति दिखे और न यन्त्र दिखे फिर भी मशीन चालू है और अबाधगति से चल रही है। हाँ सर्वोपरि परमात्मसत्ता एक दम निर्विकारी अनुभव होती है। उससे प्रभावित प्रकृति (Cosmic Mind) की सब विस्तृत क्रियाएँ हैं जो उसके ही एक अविभाजित अंश निर्देशक या अहंकार (Ego) के माध्यम से कराई जा रही हैं। चूँकि इन तीनों का शरीर से पृथक अस्तित्व नहीं, केवल शरीर ही दिखलाई देता है अतः भ्रम हो जाता है। और भ्रम जिसे होता है वह तत्व है निर्देशक (अहंकार) । और निर्देशक ही यंत्रवत् भ्रम निवारण कर लेता है। और अहंकार ही जिसे बिना समझे प्रायः लोग जीव कह देते हैं, साक्षीभाव आदि के अभिनय करने लगता है।

पत्र के अन्त में आपने लिखा है कि "कभी-कभी शंकाएँ, कुशंकाएँ

साधक को उठ आती हैं, भ्रम हो जाता है और परेशान होने लगता है किन्तु शीघ्र ही विवेक आ जाता है। कई बार हमने इस पर विचार विमर्श खूब किया है, सत्संग हुआ है, इतने पर भी शंका बनी ही रहती है। ऐसा क्यों ? और इसके सम्बन्ध में आपके विचार क्या हैं?" इस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि चूँकि साधक के विवेक के पुष्ट संस्कार और अविवेक के संस्कार जो बार-बार दबने से निर्बल हो गये हैं दोनों के ही घटक मस्तिष्क में विद्यमान हैं और वे अन्य घटकों के विद्युतमय चुम्बकीय संस्कारों से निरन्तर प्रभावित होते रहते हैं, अतः जब अन्य घटकों की शंकाओं, कुशंकाओं के संस्कारों की लहरें साधक के मस्तिष्क में विद्यमान तरंगित संस्कारों को प्रभावित करती हैं तब साधक के निर्बल बने संस्कार, शंका, कुशंका के पुनः बलवान होने का प्रयास करते हैं। किन्तु उनके उभरते ही साधक की पुष्ट यथार्थ जानकारी के संस्कार उन्हें दबा देते हैं। फलतः साधक पुनः विवेक का अनुसरण करने लगता है। चूँकि यह क्रिया नैसर्गिक है अतः इसे रोका नहीं जा सकता। साधक भी फिसलेगा पर शीघ्र ही संभल जावेगा। जो साधक जितना शीघ्र संभल जावे उसके विवेक के पुष्ट संस्कार उतनी ही उच्च कोटि के समझे जावें। इस प्रकार की सभी क्रियाएँ प्रकृति की प्रशिक्षण प्रणाली अनुभव में आती हैं। ऊँ

नारायणदास

—

तीसरा पत्र

आधारताल, जबलपुर

सद्गुरु शरणम्

परम पूज्य महाराज जी के पावन चरणों में शिरसा साष्टांग दण्डवत्। महाराज जी मैं अभी तक यह नहीं समझ पाया हूँ कि ज्ञान एवं आत्मानुभूति में क्या अन्तर है? साधक कैसे जाने कि उसे केवल ज्ञान ही

हुआ है, उसे अनुभूति नहीं हुई है? अनुभूति के लिये क्या व किस प्रकार के मापदण्ड हैं? क्या मनोनाश की स्थिति को अनुभूति कहा जाता है? यदि 'हाँ', तो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि मन का नाश कभी भी नहीं होता।, मन की स्थिरता को एक मायने में शायद मनोनाश की संज्ञा दी गई हो।

अभी तक मैंने जितना जाना है या अनुभव किया है, उससे केवल इतना ही जाना है कि एक तो सर्वोपरिपरमतत्व है (Being Consciousness) और दूसरी है प्रकृति (Rising Consciousness) । सर्वोपरिपरमतत्व निर्विकार, निराकार है और प्रकृति में विकार एवं आकार है। वास्तविकता का ज्ञान, अनुभूति आदि प्रकृति के अन्तर्गत है। साधारण व्यक्तियों को वास्तविकता का ज्ञान, अनुभूति आदि नहीं हो पाती । साधारण व्यक्ति अपने शरीर को ही सब कुछ समझता है जबकि साधक (ज्ञानी) ऐसा नहीं समझता। साधारण व्यक्ति के दिमाग की मशीन लगातार चलती रहती है -तेजी से चलती रहती है- वह अधिकांश परेशान रहता है, अशान्त रहता है । उसका मन चंचल रहता है जब कि साधक के दिमाग में मशीन तो सतत चलती रहती है परन्तु मन्दगति से, मन में स्थिरता रहती है तथापि स्थिर नहीं रहता -विचलित या अशान्त अवश्य होता है । हाँ, बीच-बीच में शान्त स्थिति में आ जाता है । समझता है कि प्रकृति के अन्तर्गत हलचल होना स्वाभाविक है । वस्तुतः सर्वोपरिपरमतत्व में ही स्थायी शान्ति है स्थायी स्थिरता है । साथ ही साधक को प्रकृति के प्रत्येक विभाग की जानकारी हो जाती है, किन्तु साधारण व्यक्ति को इस प्रकार की जानकारी नहीं हो पाती । साधक को यह जानकारी भी होती है कि निर्देशक ही सब कुछ है, महत्वपूर्ण है । क्योंकि निर्देशक के माध्यम से ही वास्तविकता का ज्ञान होता है , आत्मानुभूति होती है । वैसे आज तक सर्वोपरिपरमतत्व की अनुभूति किसी ने भी नहीं की है । क्योंकि वह प्रकृति के परे है । सर्वोपरिपरमतत्व,

निर्देशक का तर्क से निष्कर्ष है (Logical Inference) जो बुद्धि संगत प्रतीत होता है । क्योंकि बिना आधार के कुछ हो ही नहीं सकता । प्रकृति का कुछ न कुछ आधार तो अवश्य होना ही चाहिये । हाँ साधक को यह भी ज्ञान होता है कि निर्देशक विभिन्न कार्यालयों में रहता है । जिस ऑफिस में रहता है उस ऑफिस के अनुरूप ही उसके कर्म होते रहते हैं । इस प्रकार का ज्ञान साधारण व्यक्ति को नहीं हो पाता। इतना सब कुछ जान लेने पर भी निर्देशक अशान्त रहता है । शान्ति के लिये तड़फड़ाता रहता है । स्थायी शान्ति के लिये उत्सुक रहता है, प्रयास करता है, रास्ता ढूँढ़ता रहता है, परन्तु उसकी यह समस्या अभी तक नहीं सुलझ पाई और हार कर अपने मन को समझाता है कि वह यंत्रवत् है, सदैव प्रकृति के अन्तर्गत ही रहेगा। प्रकृति के अन्तर्गत स्थायित्व या स्थायी शान्ति कभी भी सम्भव नहीं है । इससे अधिक न कुछ हासिल हो सकता है न अन्य किसी भी प्रकार का ज्ञान हो सकता है या अनुभूति हो सकती है । यही सब कुछ है । यही सबका सार है ।

आप ही का

शिवराज देवकर

ॐ

श्री भारतीय विद्यालय, शिवपुरी

आत्म प्रिय, सप्रेम हरिस्मरण

ज्ञान और अनुभूति में यह अन्तर है कि ज्ञान सैद्धान्तिक है और अनुभूति व्यावहारिक है । किताबों में पढ़कर जो जानकारी केवल पठित होती है जैसे निर्देशक है, प्रकृति है, निर्देशक प्रकृति के आधीन है, साक्षीभाव में कर्तापन नहीं रहता आदि यह उपदेश देने तक सीमित रहता है । इसे व्यक्ति का केवल ज्ञान कहेंगे । किन्तु जिसने साक्षीभाव में रहकर अनुभव किया है कि उस स्थिति में वह अस्थायी रूप में आत्मा, जैसा

निर्विकारी कहा जाता है, वैसा ही वह निर्विकारी हो जाता है । ऐसे ही अपनी इच्छा को उभरते समय जिसने अनुभव किया है कि हाँ, यह इच्छा उभरी है और निर्देशक उसकी पूर्ति करेगा और निर्देशक को भी उस उभरी हुई इच्छा की पूर्ति करते हुये अनुभव किया है कि देखो, अब पैर इष्ट साध्य की ओर चले आदि मोटे रूप से इसे उस व्यक्ति का अनुभव कहा जावेगा ।

हाँ, आत्मा की अनुभूति तो की ही नहीं जा सकती । यदि कोई कहता है तो आत्मा सर्वोपरि-परमतत्व न रहकर अनुभूति करने वाला ही सर्वोपरिपरमतत्व अधिक मायने में समझा जावेगा जिसने आत्मा को ढूंढ़ लिया । अतएव अपने स्वरूप की विविध क्रियाओं का विवेक ही वस्तुतः जब अनुभव में आता है तो उसे व्यक्ति की अनुभूति कहते हैं और जब तक किताबी ज्ञान ही है, अनुभव नहीं, तब तक उसे व्यक्ति का ज्ञान कहते हैं ।मनोनाश आदि बुद्धि संगत नहीं । आपकी धारणानुसार जो आपके द्वारा साधारण व्यक्ति और अनुभवी साधक के स्मृतिचिह्नों का उल्लेख किया गया है वह मुझे भी ठीक लगता है । व्यक्ति का निर्देशक सदैव ही प्रकृति के अन्तर्गत रहेगा और प्रकृति सदैव ही सर्वोपरिपरमतत्व के अन्तर्गत होना चहिये, ऐसी ही प्रतीति होती है । ऊँ

नारायणदास

—

चौथा पत्र

आधारताल, जबलपुर

सद्गुरु शरणम्

परम पूज्य महात्मा जी के पूजनीय एवं पावन चरण कमलों में शिरसा साष्टांग दण्डवत्। आपका कृपा पत्र आशीर्वादयुक्त प्राप्त हुआ । जहाँ तक मैं समझ सका वह यह है कि एक तो सर्वोपरिपरमसत्ता है जिसे

परमात्मसत्ता, आत्मा आदि के नाम से उद्बोधित किया जाता है और दूसरा है निर्देशक जिसे कोई-कोई जीव कह दिया करते हैं। मेरी दृष्टि से सर्वोपरिसत्ता निर्विकार निराकार है जबकि निर्देशक तत्व क्रियाशील एवं आकार सहित हैं। निर्देशक की समस्त क्रियाएँ प्रकृति के अन्तर्गत हैं जो यंत्रवत् होती हैं। क्योंकि प्रकृति के अन्तर्गत सर्वत्र अपने आप यंत्रवत् हो रहा है। इस यंत्रवत् क्रिया को कोई भी बदल नहीं सकता। यद्यपि यह क्रिया परिवर्तनशील है परन्तु वह अपने हिसाब से ही यंत्रवत् होती रहती है या यों कहो कि हो रही है। इस तथ्य पर सभी महात्मा सहमत हैं। कोई कहता है प्रत्येक बात पूर्व से निश्चित है।

श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं "संसार और मुक्ति दोनों ही ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं। उन्होंने ही संसार में अज्ञान बनाकर रखा है। फिर जिस समय वे अपनी इच्छा से पुकारेंगे, उसी समय मुक्ति होगी। जिस समय वे मुक्ति देना चाहते हैं उस समय वे साधुसंग करा देते हैं और फिर अपने को पाने के लिये व्याकुलता उत्पन्न कर देते हैं। हम हजार संकल्प क्यों न करें 'त्याग' नहीं कर सकते। ईश्वर ने हमें ऐसी प्रकृति दी है कि हमें संसार में संसार का काम-काज करना ही पड़ेगा। जब तक भोग बाकी है तब तक मुक्ति नहीं। ईश्वर ने हमें अपनी महामाया के अन्दर रखा है। कभी वे होश में लाते हैं तो कभी बेहोश कर देते हैं। एक बार अज्ञान दूर हो जाता है, दूसरी बार अज्ञान आकर फिर घेर लेता है।" दुर्योधन ने श्रीकृष्ण जी से कहा था " त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" कोई-कोई कहते हैं " इस संसार क्रीड़ाभूमि का स्वामी सर्वोपरिपरमात्मा है। कोई भी प्राणी इस क्रीड़ा को त्याग नहीं सकता। कैसे भी समझिये क्रीड़ाभूमि की कोई भी स्थिति न अच्छी है और न बुरी। इसमें आवश्यक स्थितियाँ हमारी पूर्णता के लिये तथा अच्छी तरह से विकास करने के लिये निर्माण की गई हैं" श्री रामकृष्ण परमहंस स्पष्ट

कहते हैं " मैं किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता। माँ की जो इच्छा हो वे करें। वे इच्छामय हैं। उनकी इच्छा होगी तो समझायेंगी और न इच्छा होगी तो न समझायेंगी। मैं यन्त्र हूँ, वे यंत्री हैं। वे जैसा बुलवाती हैं, बोलता हूँ। जूठी पत्तल हवा के झोंके से उड़कर कभी तो अच्छी जगह पर गिरती है, कभी नाली में गिरती है।" आप भी कभी-कभी कहते हैं कि प्रकृति का कार्य हो रहा है, यंत्रवत् हो रहा है। निर्देशक तत्व अपने मस्तिष्क में अंकित स्मृतिचिह्नों के अनुसार वर्त रहा है। उपरोक्त जो भी व्यक्त किया गया है उन सबका मूलभाव एक ही है। इसलिये हम उनकी शब्दावली को पकड़ कर व्यर्थ के वादविवाद में नहीं जाना चाहते।

किन्तु महर्षि रमण कहते हैं, 'मैं शरीर हूँ, यह विचार ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों को एकसा आता है। केवल अन्तर इतना होता है कि अज्ञानी समझता है कि वह केवल शरीर है जबकि ज्ञानी की दृष्टि से जो कुछ है सब आत्मा ही है, यानी यह सब ब्रह्म है। अज्ञानी के दृष्टिकोण से वासनाओं का फल मिलता है। जबकि ज्ञानी के दृष्टिकोण से वासनायें मनोविनोद के लिये हैं। उनका कोई भी चिह्न बीज रूप में परिणत नहीं होता जो भविष्य का कर्म बने। ज्ञानी अनुभव करता है कि वह आत्मा है जो कि पूर्ण है। यदि कहीं कष्ट होता है तो होने दो। यह भी आत्मा का एक भाग है। इस प्रकार ज्ञानी जो अपने को आत्मा मानता है, प्रभावहीन रहता है और वह यह भी नहीं सोचता कि वह सुख-दुःख का अनुभव करता है क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं होता। जबकि अज्ञानी अपनी आत्मा को शरीर ही मानता है अतएव वह अपने को कर्ता मानता है। अज्ञानी सुख-दुःख का अनुभव करता है जबकि उसकी आत्मा सदैव ही सुख-दुःख से प्रभावहीन रहती है अतएव अज्ञानी को वैसा ज्ञान नहीं होता कि वस्तुतः वह सुख-दुःख से रहित है। ज्ञानी और अज्ञानी में केवल अन्तर है। वस्तुतः दोनों ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं किन्तु उनके दृष्टिकोणों में अन्तर है। ज्ञानी का इस प्रकार का दृष्टिकोण 'ज्ञान' है,

अज्ञानी का दृष्टिकोण 'अज्ञान' है। जीवनमुक्त में भी अहंकार का भाव आ जाता है किन्तु उसका रूप शुद्धतम होता है यानी ज्ञानी को वास्तविकता से नहीं भटकाता और उस पर कष्ट के परिणाम का भी प्रभाव नहीं पड़ता।

साधु, सन्तों को भी कठिनाईयाँ उठाना पड़ती हैं और वे भी अपनी प्रकृति से मर्यादित हैं।

एक तरफ तो उपरोक्त उद्धरणों में वास्तविकता तो यह है परन्तु दूसरी तरफ साधकों को दुनियाँ भर के उपदेश दिये गये हैं जिनसे पुस्तकें भरी पड़ी हुई हैं- शान्ति के लिये ऐसा करो, वैसा करो। आत्मानुभूति के लिये यह करो, वह करो। जब सर्वत्र यंत्रवत् अपने आप हो रहा है, जब साधक के हाथ में कुछ है ही नहीं तो किसी भी प्रकार के उपदेश निरर्थक हैं अस्तु-

(अ) क्या सभी व्यक्ति 'सर्वत्र अपने आप हो रहा है' इस मार्ग की ओर आकर्षित हो सकते हैं?

(ब) क्या सभी साधक मर्म को समझ सकते हैं?

(स) क्या सभी साधक मर्म को जीवन में उतार सकते हैं?

(द) क्या पहुँचे से पहुँचा हुआ महात्मा यथार्थ में निरासक्त हो सकता है?

(इ) क्या सदैव शान्ति रह सकती है? क्या सुख-दुःख का अनुभव पहुँचे हुए महात्मा को नहीं होगा? तो पहुँचे हुए महात्मा में क्या व किस प्रकार की विशेषता होती है जिससे उसे महात्मा कहा जाता है?

सदाचारी व्यक्ति को यदि महात्मा कहा जाय तो वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रकृति के अन्तर्गत न कोई अच्छा है और न कोई बुरा है। जब वह यंत्रवत् है तो अच्छे या बुरे का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उसी प्रकार शान्ति, अशान्ति, भ्रम, विवेक, आसक्ति, अनासक्ति ये सभी प्रकृति के होने से एक समान हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक साधक, प्रत्येक महात्मा अधिकांश समय में जीवभाव में दीर्घ स्वप्न स्थिति

में रहता है जिस कारण वह कभी तो शान्त तो कभी अशान्त, कभी भ्रमित तो कभी विवेकशील, कभी आसक्त तो कभी अनासक्त परन्तु वह अधिकांश तौर पर आसक्त, भ्रमित एवं अशान्त रहता है। बीच-बीच में निरासक्त, विवेकशील एवं शान्त होता रहता है। मैं कहाँ तक ठीक हूँ कृपया लिखने का कष्ट करें। ऊँ

आप ही का
शिवराज देवकर

ऊँ

श्री भारतीय विद्यालय, शिवपुरी

आत्म प्रिय, सप्रेम हरिस्मरण

मेरी दृष्टि से भी तत्व तो एक ही है यानी आत्मा (Being Consciousness)। उसकी प्रकृति (Rising Consciousness) यद्यपि पृथक कार्य करती हुई अनुभव होती है परन्तु उससे पृथक नहीं है जबकि निर्देशक प्रकृति के अन्तर्गत एक सक्रिय भाग है। निर्देशक तत्व मस्तिष्क के अन्दर स्मृतिचिह्नों के रूप में है। इनके आकार विशेष भाँति के नहीं। स्मृतिचिह्न ही क्रियाशील होते अनुभव में आते हैं। किन्तु सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से केवल कोशिकाएँ (Cells) ही देखी जा सकती हैं। ये निर्देशक तत्व के स्मृतिचिह्न ही घटक का मस्तिष्क (Unit Mind) है और यह समष्टि रूप में अन्य मस्तिष्कों के स्मृतिचिह्नों (Cosmic Mind) से यंत्रवत् क्रिया-शील होता रहता है । वैसे समष्टि रूप में मस्तिष्कों (Cosmic Mind) का एक अविभाजित अंश ही घटक का मस्तिष्क (Unit Mind) हैं । जैसे आँख, कान के रूप में, मैं ही देखता हूँ, मैं ही सुनता हूँ पर सुनने का काम कान के माध्यम से और देखने का काम आँख के माध्यम से होता है । इस प्रकार इन्द्रियाँ दो हैं पर मैं

तो एक ही हूं ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क (Unit Mind) के स्मृतिचिह्न अनेक हैं पर वे सब समष्टि रूप में मस्तिष्कों (Cosmic Mind) के ही स्मृतिचिह्न कहावेंगे ।

सन्त, महात्मा एवं दार्शनिक महानुभावों ने जैसा-जैसा अनुभव किया या पढ़ा है वैसे-वैसे ही उनके स्मृतिचिह्न हैं । जिन-जिन व्यक्तियों को जिन-जिन महापुरुषों की जो-जो बातें जँचती हैं उन-उनकी दृष्टि में वे ठीक हैं। अपने जैसे भी जिसके स्मृतिचिह्न हैं उसे अपनी जैसी ही बातें अनुकूल लगेंगी । हमें सचमुच, अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रहण करने की इच्छा होती है । जो बातें हमें अपील नहीं करतीं उनके पीछे पड़ने की हमारी प्रवृत्ति ही नहीं होगी । महर्षि रमण के मत से 'ज्ञानी सोचता है कि वह आत्मा है जो कि पूर्ण है । यदि दुःख-दर्द होता है तो उसे भी होने दो । वह भी आत्मा का एक भाग है ।' हमारी दृष्टि से जो ज्ञानी अपने को आत्मा (Self) कहता है और यदि दर्द होता है तो वह उसकी पर्वाह न कर दर्द को भी उसका एक भाग कहता है तो इस स्थिति में दर्द होते हुय भी ज्ञानी दर्द को अपना ही अंग समझकर दर्द को सहन करता है, यह भाव है, ऐसा लगता है। अब यदि हम आत्मा को निर्विकारी समझते हैं और प्रकृति को क्रियाशील समझते हैं तो प्रकृति के अन्तर्गत निर्देशक को दुःख अनुभव होगा और वह उसे अपने बौद्धिक तर्कों से सहन करेगा । महर्षि रमण के और अपने विचारों में यही अन्तर है कि हमारे दृष्टिकोण से आत्मा एकदम निर्विकार है किन्तु उसकी प्रकृति विकारी । और महर्षि के कथन से आत्मा में यदि दर्द है और दर्द भी उसका भाग है तो प्रकृति के स्थान पर आत्मा ही विकारी होगी और निर्विकारी एवं शुद्ध नहीं रहेगी। फिर सर्वोपरिपरमसत्ता का एक अंश जो अविभाजित रूप से हमारे अन्तर्गत साक्षीभाव में अनुभव होता है वह शुद्ध निर्विकारी आदर्श नहीं रहेगा। वैसे सब कुछ प्रकृति आदि का अस्तित्व

आत्मा की सत्ता से ही है। यदि आत्मा ही न हो तो दर्द या निर्देशक अथवा प्रकृति का अस्तित्व ही न रहेगा। हमें तो आत्मा शुद्ध ही उपयोगी दिखती है, उसकी सत्ता यानी प्रकृति में विकार हो सकता है। जैसे राजसत्ता निर्विकारी है, यदि विकार आदि है तो राजसत्ता से प्रभावित राज्य कर्मचारियों में हैं पर बोलने में यही आता है कि राजसत्ता अच्छी है या बुरी, ऐसे ही आत्मा निर्विकारी है यदि विकार आदि हैं तो प्रकृति के अहंकार आदि में जो कि आत्मा से प्रभावित अवश्य हैं पर बोलने में प्रायः आत्मा को ही भली या बुरी कह देते हैं। जिस ज्ञानी के मस्त्रिष्क में कर्तापन नहीं है यानी निर्देशक क्रियाशील नहीं है उस ज्ञानी का रूप मृतक सदृश होगा। उसके आदर्श से संसार का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा। किन्तु सृष्टि अब तक चली आ रही है जिसमें ज्ञानी, अज्ञानी होते रहे हैं अतः आत्मा निर्विकारी को निर्देशक की आवश्यकता है। हाँ, जब-जब निर्देशक को कर्म करने में सुख-दुःख आते हैं और वह उनसे विचलित हो जाता है तब-तब समझदार निर्देशक अस्थायी रूप से कुछ देर को निर्विकारी सा हो जाता है। निर्विकारी स्थिति से वह स्वस्थ हो जाता है, तब स्वस्थ होकर कर्मक्षेत्र में पुनः उतर आता है। अतः प्रकृति को क्रियाशील और प्रकृति के स्वामी आत्मा को निर्विकारी ही निरन्तर रहना उचित जान पड़ता है। हाँ, आत्मा को अनुभव करने वाला कोई होना चाहिए और वह अनुभव करने वाला है निर्देशक जो उसी की सत्ता के अन्तर्गत है। यद्यपि मूल में दो नहीं एक ही है परन्तु बर्तने में दो हैं। वस्तुतः ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, अज्ञानी बहुत देर में रो रोकर सँभलता है और ज्ञानी उससे जल्दी सँभल जाता है । जो ज्ञानी जितने अधिक स्मृतिचिह्न सँभलने के रखता है वह उतनी ही शीघ्रता से सँभल जाता है । वस्तुतः जिस घटक के जैसे स्मृतिचिह्न होते हैं वह घटक वैसा ही यंत्रवत् आचरण करता है ।

बुद्धि के स्तर से ही किसी-किसी से यंत्रवत् ऐसा कहा जाता है कि

शान्ति के लिये ऐसा करो, वैसा करो और जिस घटक के स्मृतिचिह्न तत्सम उपदेश के ग्रहण के योग्य होते हैं वह उन उपदेशों को ग्रहण करने लगता है । जिस घटक के स्मृतिचिह्न 'प्रत्येक कार्य यंत्रवत् हो रहा है'इस सिद्धान्त के हैं उसे सब काम यंत्रवत् ही अनुभव होंगे । प्रकृति स्वयमेव ही संस्कारों को परिमार्जित करती रहती है । जबकि वे लोग जिनके स्मृतिचिह्न अहंकार के ही अधिक हैं वे प्रत्येक कार्य को प्रकृति का न कहकर व्यक्ति के अहंकार (Ego) का है, ऐसा कहेंगे । जैसे-जैसे घटकों के स्मृति-चिह्न यंत्रवत् विकसित होते जावेंगे वैसे-वैसे ही लोग इस यंत्रवत् समझने के मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे । अतः आपके प्रश्नों के उत्तर क्रमानुसार इस प्रकार हैं -(अ) इस रहस्य को समझने वाले व्यक्ति की दृष्टि से सभी व्यक्ति इस मार्ग की ओर एक साथ आकर्षित नहीं हो सकते पर आकर्षित होने का क्रम सदा ही चलता रहेगा । (ब तथा स) यही बात मर्म के समझने की है और यही बात जीवन में उतारने के संबंध में कही जा सकती है । (द) पहुँचे से पहुंचे महात्मा को यथार्थ में निरासक्त होना असंगत लगता है। ऐसे ही विरक्त होना अथवा वैराग्य धारण करना समझना चाहिये ।(इ) हाँ, विवेकशील सुसंस्कृत व्यक्ति का निर्देशक अधिक से अधिक समय तक समय-समय पर शान्त रह सकता है। सुख-दुख से परे रह सकता है। वस्तुतः पहुँचे हुये महात्माओं की विशेषताओं के संबंध में पढ़कर, सुनकर जिन व्यक्तियों के मस्तिष्कों में स्मृतिचिह्न बन गये हैं वे ही पहुँचे हुये महात्माओं की विशेषताओं का उल्लेख किया करते हैं । जो व्यक्ति स्वयं पहुँचा हुआ महात्मा नहीं है। वह पहुँचे हुये महात्मा के विषय में कुछ भी कह ही कैसे सकता है, जब कि पहुँचे हुये महात्मा तो स्वयं कहते ही नहीं । निश्चय ही, वे ही लोग जो अपने को अभी पहुँचे हुये नहीं समझते वे ही ऐसी चर्चा करते हैं । उनके स्मृतिचिह्न शब्दज्ञान तक ही सीमित समझे जावें। वस्तुतः कहीं पहुँचने की बात है ही कहां ? सब खेल निर्देशक के स्तरों

के हैं । निर्देशक ही जब तक अस्थायी रूप से साक्षीभाव में यंत्रवत् प्रकृति द्वारा रखा जाता है उस अवधि के लिये भले ही कोई निर्देशक को पहुँचा हुआ समझ ले । किन्तु मुझे तो पहुँचा हुआ और नहीं पहुँचा हुआ यानी ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही एक से अनुभव होते हैं। क्योंकि दोनों से ही प्रकृति द्वारा यंत्रवत् काम लिया जा रहा हैं। काम भले ही एक से गद्दी पर बैठा कर लिया जावे और एक से झाड़ू लगवाई जावे । अस्तु, शान्त, अशान्त, विवेक अविवेक भाव से कोई भी व्यक्ति खाली नहीं। कभी कोई में कम कभी कोई में अधिक भाव भले ही यंत्रवत् होता रहे। ऊँ

नारायणदास

—

पाँचवा पत्र

आधारताल, जबलपुर

सद्गुरु शरणम्

परम पूज्य महाराज जी के पावन चरणों में शिरसा साष्टांग दण्डवत्! आपका कृपा पत्र प्राप्त हुआ। पत्र पढ़कर परम सन्तोष हुआ। पत्र को बार-बार पढ़ा । पत्र के विचार खुलासेवार सरल शैली में व्यक्त किये गये हैं जिन्हें आसानी से तत्काल ही समझा जा सकता है। पत्र के विचार एवं भाव गूढ़तत्व को सुन्दर तरीके से व्यक्त करते हैं जिस कारण मामूली से मामूली व्यक्ति सहज ही ग्रहण कर सकता है । यह प्रथम बार है कि आपके माध्यम से इस शैली में जो सरल है, ग्राह्य है, एवं सन्तोष देनेवाली है आपके विचार व्यक्त करवाये गये हैं । मेरी समस्त समस्यायें सुन्दर तरीके से सुलझ गई हैं । पूर्व में भी कई बार यही समस्यायें सुलझ गई हैं परन्तु आपही आप बार-बार उभर आती हैं, ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि प्रकृति का यह क्रम निश्चित है । इस क्रम को न कोई रोक सकता है और न बदल सकता है, क्योंकि सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है।

आपने जैसा कहा है कि इस प्रकार की क्रिया एवं कर्म होना स्वाभाविक है, प्राकृतिक है, यह शतप्रतिशत सही है, उचित है ।

महाराज जी, सचमुच सब कुछ यंत्रवत् है प्राकृतिक है चाहे वह घटिया हो या बढ़िया हो । साधक विभिन्न स्थितियों को कभी घटिया कहता है और कभी बढ़िया कहता है । यह भी अनुभव में आया है कि घटिया स्थिति को दूसरे समय में बढ़िया कहता है और जिस स्थिति को बढ़िया कहता है, उसी स्थिति को दूसरे समय में घटिया कहता है। इसका अर्थ हुआ कि न कोई स्थिति घटिया है और न कोई बढ़िया है । क्योंकि सभी कुछ स्वाभाविक है, प्राकृतिक है । भ्रम के कारण साधक स्थितियों में अन्तर मानने लगता है । वैसे अन्तर मानना भी यंत्रवत् है, स्वाभाविक है, क्योंकि भ्रम भी यंत्रवत् है। जैसे रात-दिन का आना स्वाभाविक है वैसे ही भ्रम,विवेक, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख अथवा शान्ति-अशान्ति आदि क्रियाएँ स्वाभाविक हैं प्राकृतिक हैं। आपके कथनानुसार उपरोक्त वास्तविकता के बारे में शनैःशनैः दृढता आना अर्थात साधक को कभी भ्रम होना तो कभी विवेक आना , इस प्रकार के क्रम का अभ्यास होना अभ्यास में दृढ़ता आना या स्थिरता में शनैःशनैः दृढ़ता आना आदि क्रियाऐं शतप्रतिशत सही हैं, मान्य हैं एवं योग्य हैं । मैंने ही उपरोक्त समस्या को सुलझा लिया। तात्पर्य यह है कि एक तो सर्वोपरिपरमतत्व है तथा दूसरी है प्रकृति । सर्वोपरिपरमतत्व निर्विकार और अलिप्त है । उसे किसी भी बात से मतलब नहीं -वह परे है और अप्रभावित हैं । हाँ उसकी प्रकृति के अन्तर्गत तरह-तरह की क्रियाऐं यंत्रवत् अपने आप सतत हो रही हैं, जो अनादि हैं । प्रकृति के अन्तर्गत विभिन्नता है, द्वन्द्व है जो सतत है, स्वाभाविक है तथा अनादि है। स्थायी स्थिरता प्रकृति के अन्तर्गत कभी भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृति के अन्तर्गत क्रियाएँ परिवर्तनशील हैं। वास्तविकता को समझ लेना एक बात है और मन मे स्थिरता दृढ़तापूर्वक आना दूसरी बात है। प्रथम साध्य है, दूसरी स्थिति असाध्य है, क्योंकि

मन में स्थायी स्थिरता का होना कभी भी सम्भव नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि प्रकृति में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ प्रभावशील हैं जो सतत् चलती रहेंगी जिस कारण कभी शान्ति तो कभी अशान्ति अनिवार्य है, क्योंकि प्रकृति के अन्तर्गत क्रियाएँ परिवर्तनशील हैं। अनुभूति तो केवल इतनी है कि मैं नाम-रूपधारी शरीर नहीं हूँ। नाम-रूपधारी शरीर मेरा मकान है। मैं निर्विकार निराकार चैतन्य तत्व हूँ जिसे सर्वोपरिपरमतत्व कहते हैं। कोई कोई कहते हैं कि 'मैं सर्वोपरिपरमतत्व का एक अंश हूँ जिसे आत्मतत्व कहते हैं।' यथार्थ में एक के अलावा कुछ है ही नहीं अर्थात् सर्वोपरिपरमतत्व। प्रकृति एक आभासमात्र है, मृगजल के समान है परन्तु आभास, मृगजल, माया आदि का भी तो अस्तित्व है ही, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इसी माया, प्रकृति आभास, मृगजल के फलस्वरूप ही परमात्मतत्व तथा जगत के अन्तर्गत विविध प्रकार की बातों की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से आभास, माया, प्रकृति ही महत्वपूर्ण है, अनिवार्य है। इसीलिये कहा गया है कि पुरुष एवं प्रकृति दोनों अनादि हैं। ये दोनों सदैव एकसाथ रहेंगें। अनुभव में यह आता है कि पानी से उत्पादित शक्ति के माध्यम से अनेक प्रकार की मशीनें संचालित हैं, प्रकाश दिया जाता है, रेलगाड़ियाँ तथा अन्य वाहन चलते हैं, कारखानों में अनेक मशीनों के माध्यम से तरह-तरह की वस्तुएँ निर्मित होती हैं परन्तु पानी अथवा शक्ति अप्रकाशित है। दीपक के प्रकाश से कोई तो रामायण, गीता आदि धार्मिक पुस्तकें पढ़ता है तो कोई इस प्रकाश की सहायता से चोरी करता है परन्तु दीपक स्वयं अप्रकाशित रहता है। इसी प्रकार 'मैं' सर्वोपरितत्व के रूप में अप्रकाशित हूँ परन्तु मेरी शक्ति आदि में हरकत है, विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ हैं तथा निर्माण, विघटन विधान आदि की क्षमता है और इसी कारण परिवर्तनशील है। इसके अतिरिक्त परमतत्व निराकार है जबकि प्रकृति, माया आदि में सूक्ष्म आंकार एवं नाम है। नाम एवं सूक्ष्म आकार का मूल स्रोत 'मन' है। जगत का मूल

स्त्रोत 'मन' ही है, क्योंकि जगत नाम-रूप युक्त है। जगत की कोई भी वस्तु, क्रिया, कर्म यहाँ तक कि सर्वोपरिपरमतत्व आदि की अनुभूति का मूल स्रोत 'मन' ही है। मन के कारण ही इनकी अनुभूति होती है। यदि 'मन' न होता तो यह सब कुछ की अनुभूति नहीं होती जगत, मन की समस्त क्रियाएँ, कर्म आदि परिवर्तनशील तो हैं ही, परन्तु साथ ही नियमबद्ध हैं अर्थात् प्रत्येक क्रिया, कर्म आदि निश्चित है- निश्चित नियम के अनुसार प्रभावशील हैं अर्थात नियमबद्ध क्रिया, कर्म आदि अपरिवर्तनशील हैं ये अपने हिसाब से ही क्रियाशील हैं। प्रकृति के अन्तर्गत विभिन्नता होते हुये भी नियमबद्धता है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक कर्म नियमबद्ध है। विभिन्नता के कारण प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक क्रिया प्रत्येक कर्म एक दूसरे के समान नहीं है। हर कोई व्यक्ति महानूपुरुष, महात्मा, धनवान बुद्धिमान्, विवेकशील नहीं हो सकता। महानूपुरुषों, महात्माओं में भी विभिन्नता है। उनके आचार-विचार में भी विभिन्नता है, यद्यपि कुछ मुद्दों में समानता है। प्रत्येक व्यक्ति के समझने की शैली, ग्रहण करने की शैली, साधना करने की शैली, अनुभव करने का समय आदि क्रियाएँ भी विभिन्न-विभिन्न हैं। वैसे प्रत्येक क्रिया, कर्म आदि समय से बँधे हैं। नियम समय पर आधारित है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु पूर्व से ही निश्चित विधान है। उपरोक्त तथ्य गले उतरते ही अहँकार (Ego) आप ही आप प्रभावहीन होने लगता है।

उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से यह तात्पर्य निकला कि 'मैं' (Being Consciousness) निर्विकार, निराकार हूँ और मेरी प्रकृति (Rising Consciousness) यानी नाम, रूप, सूक्ष्मआकार वाली, विकारयुक्त है। प्रकृति के कारण ही मेरा नामरूपधारी शरीर अस्तित्व में आता है और इसी शरीर के माध्यम से मेरे स्वरूप, प्रकृति, माया, जगत आदि की अनुभूति होती है। मेरे शरीर की प्रत्येक क्रिया एवं

कर्म तथा समय नियम से बँधे हैं, अपने हिसाब से प्रभावशील हैं, इसमें कभी भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समय एवं नियम के अनुसार सुख-दुःख आदि भोग भोगते हुये अनुभूति करता है अर्थात सुख-दुःख भोग एवं अनुभूति साथ-साथ रहेंगे, इस प्रकार अनादि हैं, यही यथार्थ अनुभूति है।

आप ही का,
शिवराज देवकर

ॐ

श्री भारतीय विद्यालय, शिवपुरी

आत्म प्रिय, सप्रेम हरिस्मरण

आपका लिखना मुझे तो ठीक लगता है कि जब सब कुछ यंत्रवत् है तो एक क्षण को भी यदि कोई कुछ करता है तो उस कर्म की कर्तृ प्रकृति ही तो है। बोलचाल में भले ही भ्रम पड़ता रहे पर बोलचाल भी तो प्रकृति का ही कार्य है। अतः ज्ञान, अज्ञान या आदेश आदि के भाव ये सभी प्रकृति द्वारा व्यक्त विभिन्न भाव हैं। सभी व्यक्ति यंत्रवत् हैं अतः टीका करना, सराहना करना आदि प्रकृति का स्वाभाविक धर्म ही है। आपका स्पष्टीकरण भी मुझे ठीक लगता है कि सर्वोपरिपरमतत्व निर्विकारी है अतः उसी में स्थायित्व है और प्रकृति विकारी है, क्रियाशील है और परिवर्तनशीन भी है अतः उसमें स्थायित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। साथ ही क्रियाशील में स्थिरता आना भी असम्भव है। मेरे विचार से वास्तविकता को समझ लेना वास्तविकता के शब्दों का उच्चारण करना नहीं बल्कि मस्तिष्क में विद्यमान विचार व्यक्त करने वाली तरंगों में समझी हुई बात की तरंगों का मिल जाना है अन्यथा समझ के क्षेत्र के बाहर ही

उस वास्तविकता को समझना पड़ेगा। सचमुच, सर्वोपरिपरमात्वतत्व के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ अनुभव होता है उसका अस्तित्व परमात्वतत्व से जुड़ा है, पृथक नहीं। यदि "मैं" सर्वोपरिपरमात्वतत्व हो सकता हूँ तो मुझे अप्रभावित ही होना चाहिये और मेरी शक्ति का धर्म हरकत करने वाला होने से उसे हरकत करना ही चाहिये किन्तु वस्तुतः मेरा यानी सर्वोपरितत्व का धर्म ही अप्रभावित रहने का है, भले ही प्रकृति मुझसे सटी रहे मैं अप्रभावित ही रहूँगा और प्रकृति प्रभावित होगी ही। यदि नीम की निवोली और आम की गुठली दोनों को एक दूसरे से भिड़ाकर बोई जावें तो जब बीज अंकुरित होंगे तो निबोली से नीम के पत्ते और आम की गुठली से आम के पत्ते ही निकलेंगे। दोनों के गुण-धर्म एकदम सटे रहते हुये भी बदलते नहीं। अतः परमात्मतत्व बीज रूप में अप्रभावित तत्व है और प्रकृति बीज रूप में विकारीसत्ता है। वस्तुतः मेरे एक ही शरीर में मेरे छः रूप हैं। (१) सर्वोपरिपरमतत्व जो समस्त शरीर में व्याप्त है तथा अप्रभावित है। (२) प्रकृति यह भी समस्त शरीर में व्या।प्त है और क्रियाशील है पर आधारित है सर्वोपरिपरमतत्व पर। (३) विश्व के समस्त प्राणियों के मस्तिष्कों की विद्युततरंगें प्रकृति पर अवलम्बित हैं और चूँकि प्रकृति आधारिंत है परमात्मातत्व पर अतः विश्व के मस्तिष्कों की विद्युततरंगों को परमात्मतत्व पर आधारित होना चाहिये। (४) घटक का मस्तिष्क भी चूँकि विश्व के मस्तिष्कों पर अवलम्बित है अतः उसे भी सर्वोपरितत्व पर आधारित होना चाहिये। (५) अहँकार चूँकि, घटक के मस्तिष्क पर अवलम्बित है अतः उसे भी सर्वोपरिपरमतत्व पर आधारित होना चाहिये। (६) स्थूल शरीर यानी इन्द्रियाँ और शरीर के अवयव अवलम्बित हैं अहँकार पर अतः स्थूल शरीर को भी सर्वोपरितत्व पर आधारित होना चाहिये। अस्तु, यही निष्कर्ष निकला कि सर्वोपरिपरमतत्व सर्वेसर्वा है और प्रकृंति क्रियाशीलपन में सर्वेसर्वा है और विश्व के मष्तिष्कों की विद्युततरंगें हैं सर्वेसर्वा घटकों के मस्तिष्कों की विद्युततरंगों

की, और घटकों के मस्तिष्कों की विद्युततरंगें हैं सर्वेसर्वा व्यक्ति के अहंकार की विद्युततरंगों की, और अहँकार की विद्युत तरंगें हैं सर्वेसर्वा व्यक्ति के स्थूल शरीर की यानी इन्द्रियों तथा शरीर के सभी अवयवों की अस्तु, व्यक्तिगत सृजन भी इसी प्रकार से अनुभव होता है। उसके भी छः रूप होते है। (१) समष्टि रूप में सर्वोपरिपरमसत्ता का एक अवभाजित अंश (२)समष्टि रूप में प्रकृति का एक अविभाजित अंश (३) समष्टि रूप में विश्व के मस्तिष्कों की विद्युततरंगों का एक अविभाजित परिवर्तनशील अंश (४) घटक के मस्तिष्क की अधिकतर स्थायी तरंगें जो विश्व के मस्तिष्कों की विद्युत तरंगों से प्रभावित होती रहती हैं। (५) अहँकार की विद्युततरंगें (६) स्थूल शरीर के नामरूप आदि सब परिवर्तनशील अंग इस प्रकार व्यक्ति का पहला रूप सर्वोपरिपरमतत्व का है जो 'पुरुष' कहा जाता है और शेष पाँचों रूप मिलकर व्यक्ति की 'प्रकृति' कही जाती है।

नारायणदास

—

छठा पत्र

आधारताल, जबलपुर

सद्‌गुरु शरणम्

परम पूज्य महाराज जी, शिरसा साष्टांग दण्डवत्। मैं कई बार सोचता हूँ कि लोग व्यर्थ ही में क्यों इतना प्रयास, इतना परिश्रम आदि वास्तविकता की अनुभूति करने के लिये करते हैं जबकि वास्तविकता कितनी साधारण एवं सहज या सरल है। उसकी पुष्टि महर्षि रमण के विचारों से होती है। महर्षि रमण कहते हैं, "विशिष्ट सत्य यानी वास्तविकता वहुत ही सरल है। किन्तु सरलता से लोग सन्तुष्ट नहीं होंगे। वे पेचीदगी चाहते हैं। चूँकि वे ऐसी बात चाहते हैं जो अधिक श्रम करने से ही प्राप्त हो, साथ ही आकर्षक हो और उलझन में डालने वाली हो,

जिस कारण उनके धर्म खड़े हो गये हैं। उनमें से प्रत्येक अत्यन्त ही गूढ़ एवं उलझनों से भरा है और प्रत्येक धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने निजी अनुयायी एवं विरोधी हैं" वस्तुतः केवल दो ही तो बातें हैं सर्वोपरिपरमतत्व यानी पुरुष या ब्रह्म या परमात्मा तथा सर्वोपरिपरमतत्व से निकली हुई प्रकृति। सर्वोपरिपरमतत्व धुरी है- नींव है- स्थिर है- निर्विकार एवं निराकार है तथा प्रकृति जो उससे ही निकली हुई है- परिवर्तनशील है परन्तु यंत्रवत् है। चूँकि सर्वोपरिपरमतत्व स्थिर है, अदृश्य है, निराकार है निर्विकार है अतः उसको जानने या अनुभूति करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वैसे भी सर्वोपरिपरमतत्व को देखना, जानना या अनुभूति करना सम्भव ही नहीं क्योंकि वह समस्त इन्द्रियों (स्थूल एवं सूक्ष्म) से परे है। इसलिये कहा गया है कि जो बुद्धि या मन के परे है वही ब्रह्म है, सर्वोपरिपरमतत्व है। इस प्रकार तर्कबुद्धि के आधार पर ऐसा समझ लिया जाता है। क्योंकि बिना आधार के कुछ होता ही नहीं। प्रत्येक स्थिति की वास्तविकता के लिये आधार तो होना ही चाहिये। तर्क बुद्धि के आधार पर ऐसा समझना प्रकृति के अन्तर्गत ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में प्रकृति ही सर्वेसर्वा है, महत्वपूर्ण है। जिस रीति से या विधि से अथवा माध्यम से वास्तविकता अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा, सर्वोपरिपरमतत्व तथा प्रकृति आदि का ज्ञान एवं अनुभूति कराई गई है या कराई जाती है वह सब प्रकृति के माध्यम से ही होती है। दृश्यमान्जगत्, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, भ्रम-विवेक, प्रारब्ध, परमात्मा, आत्मा, स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर के बारे में जो कुछ कहा गया है वह सब प्रकृति के फलस्वरूप ही सम्भव हुआ है। और यह भी सत्य है कि प्रकृति अपूर्ण है और यही कारण है कि इसके बारे में भिन्न- भिन्न मत हैं तथा समय-समय पर संशोधन देखने में आते हैं अथवा अब भी किये जा रहे हैं। जिस तथ्य या जिन तथ्यों पर एक मत पाया गया है या पाये जा रहे हैं वे मान्य होते हैं- हाँ, कभी-कभी ये भी मान्य नहीं हो पाते। वैसे यथार्थ

में वही मान्य होता है जो जिस साधक को जैसा अनुभव होता है या पटता है। प्रकृति के अन्तर्गत विभिन्नता है, इस कारण प्रत्येक साधक की अनुभूति में विभिन्नता होना स्वाभाविक है। प्रत्येक साधक के समझने की, ग्रहण करने की, अमल में लाने की प्रक्रिया अलग-अलग होती है, यद्यपि प्रत्येक साधक एक ही वास्तविकता को समझ रहा है, ग्रहण कर रहा है, अमल कर रहा है। वैसे कोई-कोई साधक एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं परन्तु ऐसे साधक कम होते हैं, विरले ही होते हैं क्योंकि अधिकांश तौर पर अहँकार के माध्यम से साधक परिणाम पर पहुँचना चाहते हैं जो सम्भव नहीं हो पाता। फलतः वे गोते लगाते रहते हैं, असफल होते रहते हैं। अधिकाँश तौर पर यही देखने में आता है कि ऐसा करो या वैसा करो, ऐसा न करो या वैसा न करो जिस कारण अहँकार प्रभावशील रहता है, जबकि अहँकार प्रभावहीन होने पर ही परिणाम पर पहुँचना सम्भव है।

चूँकि प्रकृति के अन्तर्गत सब कुछ यंत्रवत् है- अपने आप हो रहा है, अतः जब सब कुछ यंत्रवत् अपने आप हो रहा है तो ऐसी स्थिति में अहँकार को प्रभावशील रखते हुए परिणाम पर पहुँचना कैसे सम्भव है? वैसे अहँकार, प्रयास भी यंत्रवत् हैं परन्तु इस स्थिति में अहँकार दबा हुआ रहता है। हाँ गम्भीरता से मनन करने पर यह बात समझ में आ रही है कि मनोविज्ञान के अनुसार मानव का प्राकृतिक स्वभाव यह है कि उसमें अत्यधिक उत्सुकता रहती है। जन्म से ही यह उत्सुकता बनी रहती है जिस कारण वह उलझा हुआ रहता है तथा उसकी उलझी हुई स्थिति मृत्यु तक बनी रहती है। फलस्वरूप मानव विभिन्न प्रक्रियाओं से, माध्यमों से तरह-तरह के उलझावों को सुलझाता रहता है। मानव की इस प्रकार की मनःस्थिति को मद्दे नजर रखते हुए ही विभिन्न महात्माओं ने विभिन्न माध्यमों से मार्गदर्शन दिया है। चूँकि अधिकाँश लोगों के लिये अहँकार को प्रभावहीन किया जाना सम्भव नहीं है, इसलिये अहँकार को प्रभावशील

रखते हुए मार्गदर्शन दिया गया है जो सम्भव है, परन्तु इस माध्यम से साधना करते-करते आगे चलकर साधक उस माध्यम पर पहुँच जाता है कि जिस माध्यम से साधक का अपनेआप यंत्रवत् क्रमशः अहँकार प्रभावहीन होता जाता है तब कहीं यथार्थ परिणाम पर पहुँचने में समर्थ हो पाता है। निष्कर्ष यह निकला कि जिस साधक की स्थिति इस स्तर पर पहुँच गई है कि प्रत्येक क्रिया प्रत्येक कर्म, प्रत्येक विचार (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) आदि सर्वत्र अपने आप यंत्रवत् हो रहे हैं तो ऐसे साधक का अहँकार प्रभावहीन होने लगता है जिस कारण यथार्थ परिणाम या लक्ष्य के समीप पहुँचने लगता है। यथार्थ परिणाम या लक्ष्य पर पहुँचने से यही तात्पर्य है कि साधक की प्रमुख समस्या सुलझने लगती है प्रमुख समस्या यह है कि मानव को जन्म से ही यथार्थ या वास्तविकता को जानने की उत्सुकता रहती है जो मृत्यु तक बनी रहती है। इस उत्सुकता के अन्तर्गत ही अनेक विभिन्न शंकाएँ, कुशंकाएँ उठती रहती हैं। साधक को अपने आप यह अनुभूति होने लगती है कि एक सत्ता तो ब्रह्मपरमात्मा या सर्वोपरिपरमतत्व है जो निर्विकार एवं निराकार है और जिसकी अनुभूति होना असम्भव है और न उसे जानना ही सम्भव है केवल तर्कबुद्धि के आधार पर उसकी जानकारी होती है। दूसरी सत्ता जो सर्वोपरिपरमतत्व से ही निकली है प्रकृति है जो परिवर्तनशील है, हरकत वाली है, अस्थिर है परन्तु यंत्रवत् है। जिस साधक की बुद्धि में यह तथ्य क्रमशः अपने आप दृढ़तापूर्वक उतरने लगता है उस साधक की प्रमुख समस्या अर्थात उत्सुकता, जानकारी के लिये शंकाएँ, कुशंकाएँ कम होने लगती हैं तथा बाद में समाप्त हो जाती हैं। यथार्थ में यही समस्याएँ, शंकाएँ, कुशंकाएँ मानव को परेशानी मे डाले रखती हैं जो अनुभूति होने पर कम होने लगती हैं। फलस्वरूप मन में स्थिरता आने लगती है। मन पूर्णतः स्थिर स्थिति में तो कभी भी सम्भव नहीं है, तथापि अंस्थिरता का प्रभाव काफी हद तक कम हो जाता है। दुःख, परेशानी आदि तो रहेंगी परन्तु उनकी तीव्रता पूर्व

जैसी नहीं रहती है- दुःखदर्द, परेशानी पूर्व जैसी दीर्घकाल तक नहीं रहती-अल्प अवधि तक के लिये ही प्रभावित करती है। अधिकतर शान्ति एवं गम्भीरता रहती है- यही यथार्थ परिणाम है-यथार्थ अनुभूति है-साक्षात्कार है।

आप ही का
शिवराज देवकर

ॐ

श्री भारतीय विद्यालय, शिवपुरी

आत्म प्रिय, सप्रेम हरिस्मरण

सृष्टि का नियम है कि विकास क्रमिक होता है। बालक शनैः-शनैः साहित्यिक योग्यता प्राप्त करता है। जब कुछ बोलने लगता है यानी भाषण देने के योग्य हो जाता है तब गढ़-गढ़ के शब्द बोलता है। अलंकृत भाषा में, घुमा-फिरा कर बोलने में आनन्द लेता है परन्तु ज्यों-ज्यों योग्यता अधिक आती जाती है त्यों-त्यों ही बनावटी एवं फालतू शब्द छूटते जाते है। जब परिपक्व अवस्था आती है तब न कविता रहती है, न लच्छेदार भाषा, न भाषण, न साहित्य-रचना, सभी में कृत्रिमता अनुभव करता है और सीधी-सीधी सरल बातों में विचारों को व्यक्त करने लगता है। अतः यदि लोगों में उत्सुकता है, जिस कारण सरल बात को न मानकर पेचीदगी अच्छी लगती है तो वे क्रमिक विकास के दौर में से गुजर रहे हैं। सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है। हम भी तो पूर्व में यही अभिनय कर चुके हैं। अभी भी कभी-कभी कर देते हैं। यह सब प्रकृति का कार्य सहज भाव में हो रहा है।

जब हम कहते हैं कि अहँकार प्रभावहीन होने पर परिणाम पर पहुँचना सम्भव है तब यह समझ लेना आवश्यक है कि अहँकार कभी भी

प्रभावहीन नहीं होता। हाँ, अहँकार को ही प्रभावहीन होने जैसी योग्यता आ जाती है। अहँकार से ही तो सब काम चलते हैं।

हाँ, साक्षात्कार की जानकारी जो आपने दी है वह मुझे तो ठीक लगती है पर है सब कुछ यंत्रवत् अर्थात् विश्व के मस्तिष्कों की तरंगें प्रेरित कर रही हैं और व्यक्ति का मस्तिष्क अहँकार के माध्यम से तामील कर रहा है। इन्द्रियाँ आदि उपकरण अहँकार के हैं और यह सब प्रकृति के अन्तर्गत ही हो रहा है। जिस क्षण ऐसा भाव मन में आता है यानी प्रकृति कार्य कर रही है उस क्षण सहज ही अहँकार सर्वोपरितत्व का अनुकरण करने लगता है। वैसे तो सर्वोपरितत्व से हम पूर्णरूपेण अनभिज्ञ हैं किन्तु जैसा हमने तर्कबुद्धि से मान लिया है या हमें जँचा है यानी वह साक्षी है, निर्विकारी है और कर्तृत्वभावना से रहित है वैसा ही हमारा आचरण हमें अपना भी अनुभव होता है। कब? जबकि हम प्रकृति को कार्य करते अनुभव करते हैं। किन्तु, यह स्थिति क्षणिक होती है। अहँकार सहज ही कुछ बल प्राप्त कर लेता है और पुनः कर्मक्षेत्र में उतर आता है।

वैसे समस्त पत्र का विवरण स्पष्ट है, युक्तिसंगत है तथा मेरी विचारधारा से मेल खाता है। ऊँ

नारायणदास

महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत ग्रन्थ

1. गीतामृत (जीवन यापन की कला) (प्रथम भाग अध्याय 1 से 6)
2. गीतामृत (जीवन यापन की कला) (द्वितीय भाग अध्याय 7 से 12)
3. गीतामृत (जीवन यापन की कला) (तीसरा भाग अध्याय 13 से 18)
4. रामचरित मानस के 10 प्रसंग
5. रामचरित मानस के 10 रहस्य
6. साधक शंका समाधान
7. साधक प्रश्नोत्तर शतक (प्रथम)
8. साधक प्रश्नोत्तर शतक (द्वितीय)
9. साधक विचार प्रगति
10. साधक साधना (भजन)
11. जैसे मैंने सीखा (अनुभूति से पूर्व की मेरी जीवन घटनायें)
12. कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
13. आत्मबोध
14. Realisation of the Self (English)
15. साधना
16. स्वशक्ति साधना का संक्षिप्त परिचय
17. दिव्यशक्ति बोध (भजन)
18. वचनामृत
19. बुद्धि विकास
20. बापू के एकादश वृत
21. ईशावास्योपनिषद् (व्यक्तिगत दृष्टिकोण)
22. मानव विकास की पूर्णता
23. कुण्डलिनी का जीवन में उपयोग (सजिल्द)
24. रामचरित मानस में कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
25. मैंपन का विवेचन (व्यक्तिगत अनुभव)

प्रकाशक– नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट शिवपुरी

मुद्रक– मुकेश प्रेस, शिवपुरी (म.प्र.) फोन -(07492) 232104